

# राजू, स्कूल और मैं

रमेशचंद्र शाह

रा

जू स्कूल चला गया। बिल्कुल मन नहीं था उसका स्कूल जाने का। नीचे बच्चों से लदा-फँदा आँटो धड़धड़ा रहा था और इधर राजू को उसकी माँ जोर-जोर से समझा रही थी कि “अरे, दो दिन की तो बात है, परसों से छुट्टी लग जानी है। क्यों ख्वाहमख्वाह गैरहाजिर होते हो?”

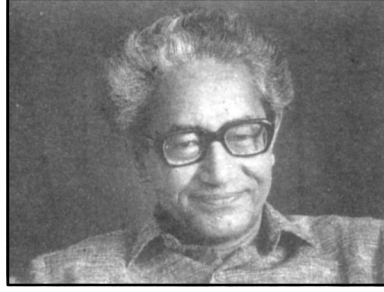
मगर राजू टस से मस नहीं हो रहा था।

इधर दोनों बहस में उलझे हुए थे, उधर आँटोवाला चीखे जा रहा था। मेरा दिमाग खराब हो गया। रोज वही तमाशा! स्कूल न हुआ, मुसीबत हो गई। झपटकर मैं नीचे गया और राजू पर बरस पड़ा, “नालायक, कामचोर! कैसे नहीं जाएगा तू? क्यों नहीं जाएगा?”

“नहीं जाऊँगा, बस। मुझे अच्छा नहीं लगता ये स्कूल।” राजू ने पलटकर जवाब दिया तो मेरा माथा भन्ना गया। मैंने आव देखा न ताव, तड़ से एक तमाचा मार दिया उसको, “बदतमीज! मुँह लगता है!”

क्या हो गया था मुझे? क्या हो गया है मुझे? जैसे वो तमाचा मैंने अपने ही मुँह पर मारा हो। आखिर क्या गलत कहा था उसने? किसने सिखाया उसे स्कूल से नफरत करना—कहीं मैंने ही तो नहीं!

क्या मैंने ही अपने बचपन के किस्से सुना-सुनाकर उसका दिमाग खराब नहीं किया है? ...कि किस तरह हमारे जमाने में कैसे-कैसे मजे लूटे हैं हमने! ये तुम्हारे फादर, सिस्टर क्या जानें पढ़ाई क्या होती है। कैसे एक से एक मजेदार और मस्तमौला अध्यापक मिले हमको। ऐसे कि उनकी मार भी प्यार जैसी लगती। कैसे हमारी शैतानियों का मजा लेने लगते थे वे! कैसे हम उनके कार्टून बनाते और अंड-बंड



**जन्म :** सन् १९३७ में अल्मोड़ा में।

**शिक्षा :** बी.एस-सी. (इलाहाबाद विश्वविद्यालय) तथा एम.ए. व पी-एच.डी. (आगरा विश्वविद्यालय)।

**प्रमुख प्रकाशन :** काव्य, आलोचना, उपन्यास एवं निबंध आदि विधाओं पर अनेक पुस्तकें तथा कुछ संपादित ग्रंथ प्रकाशित।

सर्जनात्मक उपलब्धियों के लिए म.प्र. शासन के संस्कृति विभाग द्वारा ‘शिखर-सम्मान’ (१९८७-८८) से अलंकृत तथा भारतीय भाषा परिषद, कोलकाता द्वारा उपन्यास ‘पूर्वापर’ के लिए पुरस्कृत।

नाम देते। कैसे हम कक्षा से चुपचाप गोल मार के नीचे नाले की तरफ दौड़ लगाने चले जाते थे और काफल के पेड़ पर चढ़ने तथा झाड़ियों में हिलगे हिंसालू और किलमोड़े तोड़कर खाने। ...होमवर्क? अरे, बहुत हलका। आधे घंटे में निबट जाता। ...और कैसे तो दोस्त हुआ करते थे हमारे, जो मेरे बदले पिटने को तैयार रहते थे! मुँह नहीं खोलते थे। ...कैसे दुनिया भर की किताबें हमने स्कूल के दिनों में ही चाट डाली थीं। अरे हाँ, स्कूल की पढ़ाई तो मजे-मजे में, ऐसे ही हो जाती थी। रट्टू तोते नहीं थे हम। खेल-खेल में पास भी हो जाते थे।

पोजीशन भी ले आते थे। और नहीं भी लाए तो कौन हमें कुछ कहनेवाला था! मास्टर लोग तो वैसे ही खुश हो जाते कि देखो, क्या-क्या पढ़ता रहता है ये लड़का कोर्स के अलावा भी! माँ-बाप को तो कोई मतलब ही नहीं था हमारे फर्स्ट आने, न आने से। पास भर हो जाएँ, दर्जा बदल जाए इतना भर काफी था उनके लिए। ...तुम्हारे दादाजी ने पूछा तक नहीं कभी, टोकने की तो बात ही क्या! उलटे...

बेचारा राजू! ये सारी बातें उसे क्या परीकथा जैसी नहीं लगती होंगी! क्या जाने क्यों, उसका कोई दोस्त ही नहीं बनता। कक्षा से गोल मार के बहते नाले के साथ दौड़ लगाना या पेड़ पर चढ़ के काफल तोड़ना क्या होता है, इसकी वह केवल कल्पना कर सकता है। अचरज से आँखें फाड़े मेरा चेहरा ताकता रहता है वह। अपने सहपाठियों को भी वह या तो ऐंटू साहबजादों की तरह पहचानता होगा या चुगलखोरों और आततायियों की तरह। क्या मैं यह नहीं जानता? अच्छा कैसे लगेगा उसे ऐसे स्कूल में जहाँ के टीचरों से, लड़कों से अपने बाप की ही तरह वह सिर्फ नफरत ही कर सकता है! डर और नफरत के सिवाय और सीखा ही क्या है उसने! मुझे भी जाने क्यों लत सी पड़ गई है—उसके कॉन्वेंट और उसके फादर और सिस्टर का मखौल उड़ाने की। इसलिए न कि वह वहाँ मेरी मरजी से नहीं, अपनी माँ की इच्छा के मुताबिक पढ़ रहा है।

अब इसमें भला उसका या उसकी माँ का भी क्या कसूर है! इस राजधानी के इतने बड़े शहर में क्या कहीं एक भी ठिकाने का हिंदी स्कूल है! ये महर्षि-वहर्षि तो बाद में आए। और उनके बारे में भी मैं खुद कहाँ आश्वस्त हूँ! सुना, वे भी कोई कम महँगे नहीं।

और...आखिर राजू को वहाँ भरती करवाने ले कौन गया था? झगड़ मारकर मुझे भी तो वही करना पड़ा जो बाकी सब कर रहे हैं। कौन चाहेगा, उसका बच्चा अपने पड़ोसियों से पिछड़ जाए! हिंदी के नाम पर मैं क्या उसे म्यूनिसिपैलिटी के उस कचराघर में पटक आता जहाँ हमारी कामवाली भी अपने बच्चों को नहीं भेजना चाहती?

इस पूरे साल में एक बार, सिर्फ एक बार हमारा राजू फर्स्ट आया था। फिर कभी नहीं आया। मुझे अच्छी तरह पता है कि क्यों फर्स्ट के लायक होते हुए भी उसकी हमेशा थर्ड या फोर्थ पोजीशन ही आती है और कभी तो सेवंथ तक। उसकी अंग्रेजी के टीचर की मैंने हवा जो निकाल दी थी।

राजू का वाक्य सही था बिलकुल। मगर उस सही वाक्य को भी काट के उसकी टीचर ने उसे 'सुधार' दिया था। आखिर मैं भी हूँ तो अंग्रेजी का ही मास्टर। एकाध मरतबा तो मैं देख के भी अनदेखा कर गया। मगर जब बार-बार यही सब होता रहा तो मुझसे नहीं रहा गया। मैंने उठाई राजू की कॉपी और उसी पर कोने में अपनी विनम्र टिप्पणी जड़ दी। बस, फिर क्या था! फरमान आ गया फादर का कि आपने की कैसे ऐसी जुर्रत? आइए, मिलिए और खेद प्रकट करिए। मैं क्यों खेद प्रकट करता? किस बात का खेद? सचमुच अगर मैं चला ही गया होता तो इतना तो तय था कि तेज बातचीत होती और टी.सी. थमा दिया जाता कि जाइए, अपने राजकुमार के लायक कोई बेहतर स्कूल ढूँढ़ लीजिए। एक बार, सिर्फ एक बार मैं इन 'फादर' से मिला था—कब? पहले ही साल, दाखिले के कुछ माह बाद। सिर्फ यह बताने कि जनाब, भाषा आखिर भाषा है। हिंदी गलत सिखाना या गलत हिंदी चलने देना भी उतना ही दंडनीय अपराध है जितना अंग्रेजी गलत चलने देना। बड़ी शालीनता से अपनी बात रखी थी मैंने। आखिर मैं भी अध्यापक हूँ तो इतना तो हक बनता है मेरा। नहीं बनता क्या? मगर नहीं साहब, नहीं, उनके ईगो को



ठेस लग गई। बाकी

सारे अभिभावक भी उसी की 'हाँ' में 'हाँ' मिलाने लगे। मैंने तभी सोच लिया, अब यहाँ कभी नहीं आना है। मैं तो नहीं हूँ उन रीढ़हीन अभिभावकों की तरह, जो इन लोगों के सामने नाक रगड़ते फिरते हैं। मैंने तो माया को भी मना किया था। हद हो गई इस डरपोकपने की। फादर की चिट्ठी न हुई, अदालत की पेशी का हुकम हो गया!

मगर...इतना ही प्यारा था तुम्हें अपना स्वाभिमान तो खुद जाके उनसे क्यों नहीं भिड़े? जाने कितने अभिभावकों की कितनी तरह की शिकायतें होंगी। सब इसी तरह कतराते रहेंगे तो तुममें-उनमें फर्क क्या रहा? तुम ही जरा तनकर खड़े हो गए होते तो? ऐसा कौन सा आसमान टूट पड़ रहा था। इतना आसान है क्या स्कूल से निकाल देना एक निरपराध बच्चे को?

फिर तुम हिचके क्यों? पीछे क्यों हटे? तुम्हारे नहीं जाने से क्या तुम्हारे स्वाभिमान की रक्षा हो गई? तुम नहीं गए तो बेचारी माया को तो जाना ही पड़ा ना! तुम्हारी जगह तुम्हारी पत्नी को दो बातें सुननी पड़ीं, यह क्या अच्छा हुआ? यह कैसा स्वाभिमान है जो जूझना नहीं चाहता और बचे रहना भी चाहता है? मन-ही-मन कुढ़ते रहे हो कि तुम्हारा बदला तुम्हारे लड़के से चुकाया जा रहा है, क्योंकि तुमने

उसके टीचर की गलती निकाली थी। तुम इसलिए नहीं गए कि गुस्से में प्रिंसिपल से झगड़ा हो जाने का डर था और तुम 'रिस्क' उठाना नहीं चाहते थे। है न? तुम कोई जोखिम नहीं उठा सकते। तुम सिर्फ झुँझलाना जानते हो और वह भी अपने ही घर के लोगों पर। तुम बस कतराना जानते हो और कोई-न-कोई आड़ ढूँढ़ना। कभी माया की, कभी अपनी व्यस्तता की, कभी स्वाभिमान की, कभी इस लाइलाज दुनिया की। है न? बहानों की तुम्हें क्या कमी है। अरे, इतनी ही अकड़ है तो जिस ढंग का स्कूल तुम्हें चाहिए—खुद पैदा करके दिखाओ। जिंदगी भर झगड़ मारते रहे हो अध्यापकी में—क्या मतलब निकला उसका? सिवा पेट का गड्ढा भरने के? आखिर कैसे चल रही है दिन-दहाड़े लाखों कर्बों और शहरों में ये दुकानें—अगर तुम्हारे जैसे चूजों की मिलीभगत से ही नहीं, तो?

□

क्या मैंने ही राजू से यह नहीं कहा था कि हमारे जमाने में छमाही या सालाना इम्तिहान के बाद छुट्टियाँ हो जाती थीं और उसी दिन स्कूल जाना होता था जिस दिन रिजल्ट मिलने वाला होता था। यह भी कि इम्तिहान पूरा करते ही तुम नैनीताल चले जाते थे—टूर्नामेंट तथा पिकनिक और पिक्चर वगैरह का लुत्फ उठाने।

क्या मैंने ही राजू से यह नहीं कहा था कि संसार में जितने भी बड़े-बड़े महात्मा, कलाकार और वैज्ञानिक हुए हैं—उनमें से किसी को भी स्कूल जाना अच्छा नहीं लगता था। सभी तुड़ाकर भागते थे उस कैद को। 'कि उनमें से कोई भी कभी भी स्कूली पढ़ाई में अव्वल नहीं समझा गया। और इसका उन्हें कभी कोई मलाल भी नहीं रहा। 'कि स्कूल में अव्वल आने न आने से कुछ भी साबित नहीं होता। 'कि असली प्रतिभा का, असली बड़प्पन का स्कूली पढ़ाई से कोई लेना-देना नहीं।'

क्यों बकता हूँ यह सब मैं? वह कौन सी गाँठ है मेरे भीतर जो मुझसे यह सब कहलवाती है! जबकि कड़वी सच्चाई यही है कि मेरी

दिली ख्वाहिश यही रही कि राजू हमेशा फर्स्ट आए—किसी से पीछे न रहे। नहीं तो, मुझे आखिर किसलिए यह शिकायत है कि उसे जानते-बूझते 'फर्स्ट' नहीं आने दिया जाता? बदला लिया जा रहा है उससे?

क्या मैं भी अपने स्कूली दिनों में फर्स्ट आने को नहीं तरसता रहा? क्या मुझे भी शिकायत नहीं थी अध्यापकों से, अपने माँ-बाप से, जाने किस-किससे! अपने बच्चों के सामने जिस जमाने की खूबियाँ बखानते मैं नहीं थकता, क्या सचमुच उस जमाने से मुझे कोई शिकायत नहीं? क्या मेरे साथ भी अन्याय नहीं हुआ? क्या अच्छी-भली यादों के साथ-साथ खासी कड़वी यादों का भी एक लंबा सिलसिला

मेरे भीतर दर्ज नहीं? फिर मैं काहे को ख्वाहमख्वाह अपने बच्चों को उलझाता हूँ इस सब में? वैसे भी वे क्या कोई कम परेशान हैं कि मैं ऊपर से एक और कुंठा उनमें जगाऊँ?

बेचारा राजू! 'तू है कौन स्कूल नहीं जाऊँगा कहनेवाला?' यही न मैंने कहा था उससे? वह भी तो पलट के पूछ सकता था मुझसे कि तुम कौन हो जो दो-दो दुविधाओं पर एक साथ सवारी गाँठना चाहते हो। एक ओर मेरे स्कूल पर लानत भेजते रहते हो आएदिन और दूसरी ओर उसी स्कूल में मेरे भविष्य की गारंटी खोजते हो। एक ओर इस पढ़ाई का मखौल उड़ाते हो और दूसरी ओर मुझसे यह उम्मीद भी करते हो कि मैं फर्स्ट आता रहूँ हर बार। जरा सा नीचे

खिसका नहीं कि तुम्हारा मुँह लटक जाता है। क्या मैं नहीं जानता? 'अपने जमाने की डींग हाँकते नहीं थकते तुम। अपने जमाने के डंडे से नए जमाने को पीटते रहते हो और तिसपर यह भी चाहते हो कि इसी जमाने की हर नेमत तुम्हारे बेटे पर ही निछावर हो। भला क्यों?

राजू यह सब नहीं सोच सकता। राजू यह सब मुझसे मेरे मुँह पर कह भी नहीं सकता। राजू केवल मेरी बौखलाहट से हतप्रभ हो जा सकता है या ज्यादा-से-ज्यादा वह बिफर सकता है। कह सकता है कि 'नहीं जाना चाहता मैं स्कूल, बस।' तो फिर...? तो फिर...क्या?

□

एम-४, निराला नगर,  
भदभदा रोड, भोपाल-४६२००३

## कविताएँ

# नारी को संबोधित तीन कविताएँ

: एक :

जी नहीं भरता कभी  
चाहता रहता यही  
भरता रहूँ  
नासिका-पुटों में  
तेरी ही गंध-सुगंध।

सुनता रहूँ तेरे ही स्वर, छंद  
शब्द, अर्थ, लय और ताल  
निहारता रहूँ तेरी ही चाल  
पीता रहूँ, तेरा अमृत और विष  
पाता रहूँ तेरे राग-विराग।

तेरे संसर्ग से हुआ एहसास  
सौंदर्य आस्वाद का।  
तेरे ही स्पर्श से पाया होश-दर-  
होश  
अपने होने का।

तूने ही किया मदहोश-बेहोश।  
तेरी ही कोख से जनमा था—


एक दिन; तेरी ही गोद में  
हो मेरा अंत!

: दो :

चैन मिला जो  
पहले-पहल  
तेरे पहलू में,  
नहीं मिला फिर  
कभी कहीं  
अवनि-अंबर में।

लौटा तेरे दर से  
भटका कहाँ-कहाँ मैं  
घाटी, जंगल, सागर-तटस्थल,  
शैल-शिखर और बीच-भँवर में,  
गहन गुह्वर में।

नहीं मिली वह शांति  
मिली जो  
आखिर  
तेरे ही अंचल में।

 राजकुमार सैनी

: तीन :

किसी भी स्वरूप में  
किसी अंतर्वस्तु में  
हो तुम सुंदर!  
  
कहीं भी, कैसी भी  
नहीं होती कुरूप कभी  
नहीं होती अप्रिया  
मोह ही लेती है तुम्हारी  
कोई-न-कोई अदा!  
दृष्टिगोचर हो ही जाता है  
कोई-न-कोई सौंदर्य।

बहन या पत्नी  
माँ या बेटा  
सखि अथवा प्रिया  
गजगामिनी, हंसिनी,  
शंखिनी, पद्मिनी।

तुम जो सताई हुई,  
तुम जो उपेक्षिता,  
त्यक्ता, परित्यक्ता,  
पराधीना, मुक्ता,  
कुमारिका, सधवा;  
तुम जो विधवा!

पिलाऊँगा तुम्हें अपने अंतर का  
अमृत  
जो चिर-संचित।  
आदि से अंत तक  
तुम्हारा, चिर-परिचित!  
देख नहीं सकता मैं तुम्हारा चेहरा  
उदास।  
सिर से पाँव तक  
धूप से छाँव तक  
अर्पित, समर्पित!  
मैं तुम्हारा आत्मीय मित्र आदिम,  
अद्यतन, शाश्वत,  
सनातन।

□

प्लॉट नं. ७, फ्लैट नं. १२२, सेक्टर-४,  
दिन अपार्टमेंट्स, द्वारका,  
नई दिल्ली-११००४५